Indian J. Soc. & Pol. 09 (01) :85-90 : 2022 **ISSN: 2348-0084 (PRINT)**
31 JANUARY 2022 **ISSN: 2455-2127(ONLINE)**

भारतीय ज्ञान परम्परा और जीवन दर्शन

सुनीता त्रिपाठी[1]

एसोसियेट प्रोफेसर एवम् विभागाध्यक्ष, लोक प्रशासन विभाग, सिद्धार्थ विश्वविद्यालय, कपिलवस्तु, सिद्धार्थनगर, उ0प्र0, भारत

ABSTRACT

भारतीय ज्ञान परम्परा एवं जीवन दर्शन अत्यन्त समृद्ध, विराट एवं सार्वजनीन है। इसमें भौतिक एवं आध्यात्मिक, लौकिक एवं पारलौकिक, दैहिक एवं आत्मिक तथा जीवन एवं मोक्ष का अद्‌भुत समन्वय पाया जाता है। यहाँ ज्ञान का सम्बन्ध मनुष्य के सर्वांगीण विकास से है। 'सा विद्या या विमुक्तये' के आदर्श को अपनाते हुए सनातन दर्शन में शिक्षा का उद्देश्य स्वतन्त्र चिन्तन द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति तथा आत्म–ज्ञान को माना गया है। यह ज्ञान परम्परा मानव विकास को उस उच्चता तक ले जाती है जहाँ मनुष्य "अद्वेष्टासर्वभूतानाम्" की अनुभूति करता है, जिसे भारतीय जीवन दर्शन में मनुष्य का चरम लक्ष्य माना गया है। वस्तुतः 'पुरूषार्थ चतुष्टय' की उपलब्धि ही भारतीय ज्ञान परम्परा एवं जीवन दर्शन का सम्पूर्ण आधार है। सनातन ज्ञान तथा जीवन मूल्य का सार यह है कि ईश्वर भूतमात्र के हृदय में विद्यमान है और भूतमात्र ईश्वर के अन्दर अवस्थित है। उन्हें प्राप्त करना ही मानव जीवन की महान उपलब्धि है। यही आत्मसाक्षात्कार है, यही परम ज्ञान है, यही मोक्ष है और यही वह जीवन्त सत्य है जो मनुष्य को पूर्णता प्रदान करता है। यह केवल परमात्मा को पाने का मार्ग नहीं है वरन् मनुष्य और मनुष्यता को पाने का मार्ग भी है। यह सक्रीय सेवा का मार्ग है तथा यही निर्विशेष कल्याण भी है। निश्चय ही भारतीय ज्ञान परम्परा एवं जीवन दर्शन का संकल्प समकालीन समाज की अपरिहार्य आवश्यकता है।

KEYWORDS: *आध्यात्मिक, सनातन, आत्मज्ञान, पुरुषार्थ, मोक्ष, आत्मसात, जीवन दर्शन, लौकिक, पारलौकिक, समन्वय, आत्मसाक्षात्कार।*

प्रस्तुत शोध पत्र समाजशास्त्रीय पद्धति पर आधारित है जिसके अन्तर्गत प्राचीन भारतीय ज्ञान परम्परा एवं जीवन दर्शन से सम्बन्धित प्रमाणिक साहित्य का गहन अध्ययन कर वर्तमान सामाजिक परिवेश के सन्दर्भ में इसकी प्रांसगिकता को एवं महत्व को समझने का प्रयास किया गया है। विश्लेषणात्मक, अनुभावात्मक तथा तुलनात्मक अध्ययन प्रद्धति का प्रयोग कर भारतीय ज्ञान परम्परा एवं जीवन दर्शन पश्चिमि ज्ञान दर्शन से उन्नत एवं कल्याणकारी सिद्ध किया गया है। इस अध्ययन में गुणात्मक पद्धतियों का प्रयोग किया गया है तथा तर्कशास्त्र का सहारा लेकर निगमन विधि द्वारा सनातन जीवन दर्शन एवं ज्ञान परम्परा को नवीन परिप्रेक्ष्य में पुर्नप्रतिष्ठित किया गया है। वर्णनात्मक विधि का प्रयोग कर विषय की व्याख्या की गयी है तथा नैतिक एवं दार्शनिक तत्वों के आधार पर निष्कर्ष निकाला गया है। अपने कथन के समर्थन में द्वितीयक स्रोतों से सन्दर्भ ग्रहण किया गया है तथा तथ्य संकलन हेतु सनातन दर्शन के प्रमाणिक ग्रन्थों तथा अन्य सम्बन्धित साहित्य का सहयोग लिया गया है।

इस अध्ययन का उद्देश्य वर्तमान विश्व की भौतिकवादी, एकपक्षीय ज्ञान की संकल्पना तथा जीवन दर्शन के असंतुलित दृष्टिकोण से उत्पन्न समस्याओं का समाधान तलाश करना है। इसके लिए संमिनार, परिचर्चा, सामूहिक वाद–विवाद, सर्वेक्षण अवलोकन एवं विद्ववत्जनों से परिचर्चा के द्वारा समस्या समाधान हेतु आवश्यक निष्कर्ष निकाला गया है। इस शोध परिचर्चा का लक्ष्य सम्पूर्ण विश्व का कल्याण है और इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु शोध पत्र में सनातन ज्ञान परम्परा एवं जीवन मूल्य को पुर्नप्रतिष्ठित करने पर बल दिया गया है।

वर्तमान विश्व मानव विकास (भौतिक) के चरमोत्कर्ष का परिचायक है जहां मनुष्य तथाकथित ज्ञान की पराकाष्ठा का परिचय देते हुए लगभग समस्त असमर्थताओं पर विजय प्राप्त करने में सक्षम हो चुका है। वह आसमान में पक्षी की तरह उड़ सकता है, समुद्र में गहराई तक जा सकता है, अंतरिक्ष को भेद सकता है तथा एक ही क्षण में संपूर्ण सृष्टि का विनाश भी कर सकता है। कृत्रिम मानव अंग के निर्माण से लेकर असाध्य रोगों का इलाज, सब कुछ उसकी पहुंच की सीमा में है। विज्ञान एवं तकनीकी ने संपूर्ण पृथ्वी को एक गांव में परिणत कर दिया है, भौगोलिक सीमाएं टूट चुकी है और दूरियां अब इंसान के लिए कोई मायने नहीं रखती हैं। सचमुच यह सब मानव ज्ञान के गौरव एवं विस्मय का विषय है। किंतु ज्ञान की यह भौतिकवादी पश्चिमी अवधारणा मनुष्य के एकपक्षीय (भौतिक) विकास का संकल्प रखती है। अतः यह ज्ञान परंपरा मनुष्य को मशीन अथवा यंत्र बनाने का कार्य कर रही है। व्यक्ति की संवेदना, नैतिक मूल्य एवं जीवन दर्शन यंत्र की ही भांति केवल कार्यकुशलता एवं उत्पादकता तक सीमित रह गए हैं। यहां विकास एवं ज्ञान को सांसारिक उपलब्धि तक सीमित कर दिया

1: Corresponding Author

गया है। मनुष्य के सर्वांगीण विकास का लक्ष्य नहीं किया गया है। जिस प्रकार मशीन द्वारा कार्य विशेष को कुशलतापूर्वक निष्पादित किया जाता है उसी प्रकार मनुष्य भी किसी क्षेत्र विशेष में विशेषज्ञता प्राप्त कर यंत्रवत कार्य करता है और उस क्षेत्र में अपना सर्वोत्तम प्रदान करता है। यही उसके ज्ञान की पराकाष्ठा है। यह ज्ञान परंपरा मनुष्य को एक कुशल इंजीनियर, एक सफल डॉक्टर, एक बड़ा प्रबंधक, एक अद्भुत कारीगर तथा बहुचर्चित राजनीतिज्ञ बनाने में तो सफल है किंतु इस 'ज्ञान' में मनुष्य को मनुष्य बनाने का उद्यम नहीं है। आज मनुष्य के ज्ञानवान होने का प्रमाण उसे प्राप्त पद अथवा धन है। पीड़ित मानवता की सेवा अथवा विश्व–कल्याण से उसका कोई संबंध नहीं है।

ज्ञान की यह परिकल्पना एकपक्षीय, असंतुलित तथा दुर्बलता मेंजकड़नेवाली है। यह केवल भौतिक अथवा लौकिक उन्नति की बात करती है, आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग इससे प्रशस्त नहीं होता है। यही कारण है कि वर्तमान मनुष्य अपनी समस्त उपलब्धियों के बावजूद अशांत, एकाकी, दुःखी एवं भयभीत रहता है। उसे वास्तविक आनंद की प्राप्ति का अनुभव नहीं होता है। परिणाम स्वरूप जब उसे इस अधूरे भौतिकवादी, पश्चिमी ज्ञान परंपरा की दुर्बलताओं का भान होता है तब वह परमानंद की खोज में व्याकुल हो उठता है और उपनिषद् के शब्दों में यह प्रार्थना करता है कि– 'असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमयमृर्त्योमा अमृतम् गमय।' (बृहदारण्यकोपनिषद,: 1/2/3)

मनुष्य की यह प्रार्थना ही सनातन ज्ञान परंपरा के अन्वेषण का मूल है। चूंकि हमारी सनातन परमपरा में मनुष्य की भौतिक आवश्यकता के साथ–साथ आध्यात्मिक अभीष्ट को पूर्ण करने का भी संकल्प करती है। इसलिए निश्चय ही भारतीय ज्ञान परंपरा अत्यंत विराट, समृद्ध एवं सार्वजनीन है। यह अपने आप में पूर्ण, अद्भुत एवं गौरवशाली परंपरा है जिसमें भौतिक एवं आध्यात्मिक, लौकिक एवं पारलौकिक तथा दैहिक एवं आत्मिक विकास का सहज सामंजस्य पाया जाता है। यहां साक्षरता एवं शिक्षा, ज्ञदवूसमकहम एवं ज्ञान का अद्भुत समन्वय है किंतु साक्षरता ज्ञान का परिचायक नहीं है। प्राचीन भारत में शिक्षा का उद्देश्य स्वतंत्र चिंतन द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति तथा आत्मज्ञान को माना गया है। यह ज्ञान संपूर्ण मानव जीवन एवं दर्शन को अपने अंदर समेटे हुए है तथा मानसिक, वाचिक एवं कार्मिक सभी प्रवृत्तियों तक विस्तारित है। मनुष्य के वाणी एवं कर्म ही नहीं विचार एवं आचरण को भी ज्ञान की गरिमा से सीमित किया गया है। इसमें गुरु और शिष्य का संबंध अभिन्न है। प्राचीन भारत में 8 से 12 वर्ष के बीच बालक का उपनयन संस्कार किया जाता था। तत्पश्चात बालक के औपचारिक शिक्षा का आरंभ होता था। औपचारिक शिक्षा की समाप्ति पर शिष्य गुरु को दक्षिणा देता था। विद्यार्थी जीवन में उसे ब्रह्मचर्य का पालन करना होता था जिससे वह 'अत्त दीपो भव' की भावना से आत्मसात होकर 'अहं ब्रह्मास्मि' की अनुभूति करता है और अंततः ज्ञान की यह संकल्पना 'अद्वेष्टासर्वभूतानाम्' तथा 'आत्मवतसर्वभूतेषु' के भाव में परिलक्षित होती है। यही भारतीय ज्ञान का मूल है, यही आत्मसाक्षात्कार है, यही परमानंद है और यही मानव जीवन का सवो र्लक्ष्य है।

भारतीय दृष्टि ज्ञान की प्राप्ति हेतु जिन साधनों को स्वीकार करती है, वे हैं–

1. ज्ञान प्राप्ति हेतु श्रद्धा का भाव
2. दीर्घकालीन अध्ययन
3. लेखन
4. शास्त्रार्थ तथा
5. चिंतन

सनातन परंपरा के अनुसार ज्ञान की प्राप्ति हेतु सर्वप्रथम ज्ञान के प्रति श्रद्धा की भावना का होना अनिवार्य है। मनुष्य का परम उद्देश्य सांसारिक सुख–भोग नहीं वरन ज्ञान की प्राप्ति है– इस भावना की सहज स्वीकृति ही ज्ञान की प्राप्ति का प्रथम चरण है। क्योंकि जब तक हम ज्ञान को अपरिहार्य तथा महत्वपूर्ण नहीं मानते हैं तब तक हम उसकी प्राप्ति हेतु आवश्यक अनवरत, अनासक्त परिश्रम, दृढ़ संयम तथा त्याग एवं तपस्या का संकल्प नहीं कर सकते हैं। ज्ञान का दूसरा महत्वपूर्ण साधन है दीर्घकालीन (अनवरत) अध्ययन। ज्ञान के निमित्त अनवरत श्रवण आवश्यक है। ऋग्वेद में ज्ञान की प्रकृष्टता का गौरवपूर्ण वर्णन किया गया है।2 (वर्मा,2002) प्राचीन भारत में इसके लिए शास्त्रों के अध्ययन को परम कर्तव्य माना जाता था।3 चोदायित्रि सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती।। (ऋग्वेदरू 1ध्3ध्11) लेखन अर्थात लिखित अभिव्यक्ति को सनातन परंपरा में ज्ञान का तीसरा साधन माना गया है। लिखने से हमारे ज्ञान में परिपक्वता तथा संपूर्णता आती है। लेखन कला के सम्यक उपयोग से हमारा ज्ञान क्रमबद्ध एवं स्पष्ट होता है। ज्ञान की प्राप्ति का चौथा साधन शास्त्रार्थ को माना गया है। प्राचीन भारत में शास्त्रार्थ का अतिशय महत्व था यह व्यक्ति के बौद्धिक सूझ–बूझको सुदृढ़ करता है। महर्षि याज्ञवल्क्य तथा शंकर प्राचीन भारत में इस परंपरा के पुरोधा माने जाते थे। यूनानी विचारक सुकरात तथा प्लेटो ने भी इस पद्धति का प्रयोग ज्ञान प्राप्ति के लिए किया था। ज्ञान प्राप्ति का पांचवा महत्वपूर्ण साधन चिंतन को माना गया है। चिंतन का अर्थ है दीर्घ और विस्तृत विश्लेषण तथा प्रत्येकतानता। वेदांत शास्त्र की भाषा में चिंतन के लिए मनन और निदिध्यासन शब्दों का प्रयोग किया गया है। निदिध्यासन मनन का ही चरमीकरण है। किसी भी वस्तु का संपूर्ण एवं गहन ज्ञान प्राप्त करने के लिए चिंतन आवश्यक है। भारतीय दृष्टि में चिंतन के दो रूप किए जा सकते हैं– (1) बुद्धिनिष्ठ चिन्तन तथा (2) आत्मदर्शन। तत्वज्ञान, सैद्धांतिक भौतिक ज्ञान, गणित शास्त्र, रसायन शास्त्र

इत्यादि विषयों का उत्थान चिंतन के प्रथम रूप बुद्धिनिष्ठा का परिणाम है। इसके विपरीत जब हम बाह्य जगत में आवृत चक्षु होकर धारणा और ध्यान के सहारे स्वयं को जानते हैं तो उसे आत्म दर्शन कहते हैं।4 (वर्मा,2002) महात्मा बुद्ध को आत्म दर्शन के सहारे ही ज्ञान प्राप्त हुआ था। आत्म चिंतन का महत्व स्वीकार करते हुए गीता में भी कहा गया है– ''स्वयं योग संसिद्धः कालेनात्मानि विदति।'' मानव अंतरात्मा का अनुसंधान करने से ही सांसारिक मोह माया और भय से मुक्ति मिलती है और मनुष्य सत्य को आत्मसात् करने का उद्यम करता है।

भारतीय ज्ञान परंपरा में आत्म चिंतन का अपरिमित महत्व है। स्वामी रामतीर्थ इसकी महत्ता का समर्थन करते हुए कहते हैं कि–अनुत्तर ज्ञान का केंद्र हमारा हृदय है। आत्म चिंतन से मनुष्य अपनी कमियों से परिचित होकर उन पर विजय पाने में समर्थ होता है। आत्म दर्शन का महत्व पश्चिमी सभ्यता में भी स्वीकार किया गया है। पश्चिमी विचारक देकार्ते, पैस्कल, बर्नार्डशॉ, ब्लायटहेड इत्यादि आत्म दर्शन के ही पंथानुगामी थे। बर्ट्रेण्ड रसेल ने अपनी पुस्तक 'दि कन्क्वेस्ट ऑफ हैपिनेस' में आधुनिक मानव के लिए आत्मविश्लेषण अथवा आत्मचिंतन की आवश्यकता बताई है।

इस प्रकार भारतीय विमर्श में ज्ञान के साधन अनेक हो सकते है किंतु ज्ञान एक ही है। ज्ञान का क्षेत्र अनंत है। ज्ञान अत्यंत पवित्र एवं शक्तिप्रदाता है। ज्ञान ही मनुष्यत्व की प्राप्ति का मार्ग है, ज्ञान ही देवत्व की प्राप्ति का मार्ग है। ज्ञान की निरंतर साधना ही व्यक्ति के अहं का नाश कर उसके हृदय में विशालता का संचार करती है। ज्ञान की उपासना ही हमारे सामने वह धरातल उपस्थित करती है जहां समस्त मानव एक हो जाते हैं। यहाँ ज्ञान की साधना और नैतिक मूल्यों की साधना को अभिन्न माना गया है। बौद्ध दर्शन में कहा गया है कि शील से ही प्रज्ञा का उदय होता है। ज्ञान में निष्ठा सत्य के मार्ग पर ले जाती है और सत्य कभी अनैतिक नहीं हो सकता है। भौतिक विज्ञान का उदय भी सत्यसेवन द्वारा ही संभव हुआ है। गणित के साध्यों को हल करना सत्य पर ही आश्रित है। इसी प्रकारसंयतेन्द्रियत्वज्ञान की प्राप्ति का आधार है। जैसा कि भगवद्गीता में कहा गया है– ''श्रद्धावान लभते ज्ञानं तत्परःसंयतेन्द्रियः''। अतः भारतीय परंपरा में शुद्ध सात्विक मन एवं जीवन दिव्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रथम पग माने गए हैं।गीता5 कहती है कि दुष्कर्म करने वाले मुझे नहीं पाते हैं–''न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यते नराधमाः। माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः।'' (श्रीमद्भगवद्गीता: 7/15)

ज्ञान की इस व्यापक अर्थ स्वीकृति के कारण ही प्राचीन भारत में शिक्षा का उद्देश्य स्वतंत्र चिंतन द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति तथा आत्म–ज्ञान को माना गया है। अतः भारतीय ज्ञान परंपरा जड़ नहीं वरन् सतत प्रवाहमान है, इसमें विवेक के उपयोग की स्वतंत्रता है।6 (प्रो0 अम्बिका दत्तशर्मा, अध्यक्ष–दर्शन विभाग, सागर विश्वविद्यालय द्वारा 16वीं शरद व्याख्यान माला में दिया गया वक्तव्य– (https://www-patrika-com-india.) स्पष्ट है कि भारतीय दृष्टि में शिक्षा पश्चिम की एजुकेशन से भिन्न है जहां इसका अर्थ है सीखकर कोई जानकारी या हुनर प्राप्त करना, तर्क क्षमता प्राप्त करना तथा जीवन के लिए बौद्धिक रूप से तैयार होना इत्यादि। भारतीय परंपरा में यह सब शिक्षा नहीं है। शिक्षा है मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करना। स्वामी विवेकानंद के अनुसार शिक्षा वह है जो हमारे बच्चों में चरित्र का निर्माण करें, शक्ति का विकास करें, भूत–दया का भाव और सिंह का साहस पैदा करे। अर्थात उसमें मौजूद 'तत्वम् असि' की भावना जागृत करे। (https://www-ugtabharat-com-)

हमारी सनातन परंपरा में विद्या याज्ञान वह है जो जीवन का अंधकार या दुख दूर करें। मुक्ति साधने की कला को विद्या कहते हैं। अपने आप से जुड़ना, जुड़कर सब दुखों से नितांत मुक्ति पाना ही विद्या है। जैसा कि विष्णुपुराण में कहा गया है–तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या विमुक्तये।आयासायापरं कर्म विद्यऽन्या शिल्पनैपुणम।। (विष्णु पुराणः 1–19–41)

अर्थात–विद्या वह है जो मुक्ति प्रदान करे। जिसके द्वारा हम रोग, शोक, पाप, दीनता, दासता, गरीबी, बेकारी, अज्ञान, अभाव, दुर्गुण, कुसंस्कार आदि की दासता से मुक्ति प्राप्त कर सकें। (https://Literature-awgp-org)

भारतीय ज्ञान परंपरा के समान ही भारतीय जीवन दर्शन भी समग्र, संतुलित एवं व्यापक है।यह व्यक्ति के लौकिक एवं पारलौकिक जीवन में अद्भुत समन्वय स्थापित करती है। हमारी सनातन परंपरा में मनुष्य के दो आयाम माने गए हैः– प्रथम–जीव या ब्रह्म या आत्मा और दूसरा– शरीर। जीव या ब्रह्मनित्य, स्थायी, स्थान एवं काल निरपेक्ष है जब कि शरीर अनित्य एवं अस्थायी है। जीव या ब्रह्म या आत्मा का सम्बन्ध आध्यात्मिक जगत से है जिसका लक्ष्य आत्मसाक्षात्कार है। यही परमानन्द या परम् ज्ञान का परिचायक है। शरीर का सम्बन्ध भौतिक जगत से है, इसके मूल में स्वार्थ है, जो अज्ञानता का परिचायक है। यह अज्ञानता ही बन्धनों का कारण है। इसलिए भारतीय परम्परा में व्यक्ति के भौतिक विकास को नहीं वरन् उसके आत्मिक उत्थान को, परमात्मा क साथ उसके तादात्म्य को जीवन का चरम उद्देश्य माना गया है। इसी को आत्मसाक्षात्कार कहा गया है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि भारतीय जीवन दर्शन में सांसारिक अथवा भौतिक आवश्यकता को स्वीकार नहीं किया गया है। वस्तुतः सनातन जीवन दर्शन उस 'एकात्मवादीचिन्तन' पर आधारित है, यहाँ लौकिक एवं पारलौकिक जगत में कोई अन्तर्विरोध नहीं है।

इस सामंजस्यपूर्ण परंपरा में मन, शरीर और आत्मा की अन्योन्यनिर्भरता को व्यक्त करने वाला शरीर आत्मा के समान ही महत्वपूर्ण है। इसलिए निःसंदेहमनुष्य को अपनी सच्ची आत्मा

की तलाश करनी चाहिए तथा अज्ञानमय प्राकृतिक अवस्था से आध्यात्मिक उच्चतर अवस्था की ओर आरोहण करना चाहिए। किंतु इसके लिए पहले निम्न भौतिक, प्राणिक और मानसिक विकास का लक्ष्य पूरा हो जाना आवश्यक है। (त्रिपाठी,2016) भारतीय परंपरा में इस समस्या के समाधान हेतु मनुष्य के मार्गदर्शन के लिए दोहरे विचार प्रणाली का आधार प्रस्तुत किया गया है। यह दोहरी विचार प्रणाली है–चार वर्ण एवं चार आश्रम की प्रणाली अर्थात वर्णाश्रम व्यवस्था। व्यष्टि और समष्टि के उत्थान हेतु प्राचीन भारत में जो नियम निर्देश निर्धारित किए गए थे उन्हीं को वर्णाश्रम का नाम दिया गया है।

वर्ण व्यवस्था का मूल्य निरर्थक व्यंग्यरूप जाति प्रथा के आधार पर नहीं आंकना चाहिए। क्योंकि सनातन परंपरा के अनुसार मानव समाज एक कृत्रिम संस्था नहीं वरन् वह दैवीय एवं शाश्वत है और इसमें अवस्थित चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) इसी शाश्वत समाज के अभिन्न अंग है। ऋग्वेद में इनकी उत्पत्ति इसी व्यापक संकल्पना को प्रस्तुत करती है–"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शुद्रो आजयत।।'' (ऋग्वेद : 10/90/12)

प्राचीन भारतीय विचार यह है कि मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुसार चार प्रकार के होते हैं। इनमें प्रथम हैं–ब्राह्मण, जो विद्या, चिंतन और ज्ञान से संपन्न मनुष्य है और समाज में पुरोहित, विचारक, विद्वान, धार्मिक नेता, शिक्षक तथा मार्गदर्शक का कार्य करता है। दूसरा–क्षत्रिय है जो शक्तिशाली एवं कर्मप्रधान मनुष्य है तथा समाज को राजा, योद्धा, राज्यपालक एवं प्रशासक प्रदान करता है। तीसरा–आर्थिक एवं उत्पादक मनुष्य है जिसे वैश्य कहते हैं। वैश्यवर्ण समाज के लिए उत्पादक, कृषि विज्ञ कारीगर, शिल्पी और व्यवसायी देता था। चौथा एवं अंतिम है कम विकसित एवं कौशल पूर्ण उत्पादन में असमर्थ वर्ण, शूद्र। शूद्र वर्ण शारीरिक श्रम एवं सेवा में समर्थ था अतः यह समाज के लिए नौकरों एवं सेवकों की आवश्यकता पूरा करता था। मनु स्मृति12 (1ध्90, 91, 92, 93) में इनकी कार्यों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

इस प्रकार अपनी प्रकृति एवं योग्यता के अनुसार अलग–अलग कार्यों को संपन्न करते हुए भी यह चारों वर्ण एक अखंड समाज का निर्माण करते हैं। भारतीय दृष्टि में वर्ण व्यवस्था के अंतर्गत मनुष्य की स्थिति विशुद्ध रूप से जन्म द्वारा नहीं वरन् उनकी आंतरिक प्रवृत्ति के द्वारा निर्धारित की गई थी। जन्म केवल स्थूल एवं प्राथमिक संकेत था,वर्ण का निर्धारण मनुष्य की बौद्धिक क्षमता, उसकी प्रकृति तथा कर्म द्वारा होता था। महाभारत में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि – ''न योनिः नापि संस्कारो न श्रुतं न च संतति। कारणानि द्विजत्वस्य वृत्तमेव तु कारणम।''(महाभारत वनपर्व :113/108)

भारतीय जीवन दर्शन में चातुर्वर्ण्य पर आधारित संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था को अंतरात्मा, शरीर तथा मन की उन्नति एवं विकास का ऐसा साधन बना दिया गया है जिसके द्वारा मनुष्य अर्थ और काम की स्वाभाविक खोज से ऊपर धर्म की पूर्णता की ओर अग्रसर होते हुए आध्यात्मिक स्वतंत्रता को प्राप्त कर सके। सनातन जीवन प्रणाली ने इस दुर्गम लक्ष्य को प्राप्त करने का दायित्व व्यक्ति के अकेले के प्रयत्न पर नहीं छोड़ा है। इसके लिए भारतीय दर्शन में एक ढांचा प्रस्तुत किया गया है। यह श्रेणी अथवा स्तर परंपरा विकास की दृष्टि से एक प्रकार से चढ़ती हुई सीढ़ी के समान है, जिसे आश्रम व्यवस्था का नाम दिया गया है। चार आश्रमों की यह श्रृंखला जीवन को चार स्वाभाविक काल में विभाजित करती है। उनमें से प्रत्येक काल जीवन यापन संबंधी आवश्यकताओं को पूर्ण करने की चार अवस्था को परिलक्षित करता है।

प्रथम अवस्था विद्यार्थी जीवन का है जिसे ब्रह्मचर्य आश्रम कहा जाता है। यह ज्ञान की विभिन्न शाखाओं की शिक्षा प्राप्त करने का काल है। इसमें मानव को उसके जीवन के चार महान लक्ष्यों– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के लिए कुछ सीमा तक तैयार किया जाता है। यह आश्रम नैतिक प्रकृति के अनुशासन पर सर्वाधिक बल देता है। दूसरी अवस्था गृहस्थ आश्रम की है, जिसमें प्रवेश कर मनुष्य अपने ज्ञान को चरितार्थ करता है। गृहस्थ आश्रम में मनुष्य प्रथम तीन पुरुषार्थ–धर्म, अर्थ एवं काम को पूरा करने में समर्थ होता है। जीवन की तीसरी अवस्था वानप्रस्थ आश्रम में मनुष्य वन में जाकर एकांतवास करता है और आत्मसाक्षात्कार का प्रयत्न करता है। चौथी एवं अंतिम अवस्था संन्यास आश्रम की है जहां वह समस्त सांसारिक बंधनों से मुक्त होकर विश्वात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित कर मोक्ष की प्राप्ति करता है। भारतीय जीवन परंपरा में यही मानव का परमोच्च लक्ष्यहै।

किंतु भारतीय दर्शन में इस चक्र को सब के लिए अनिवार्य अथवा बंधनकारी नहीं माना गया है। अधिकांश मनुष्य प्रथम दो या तीन अवस्थाओं तक ही सीमित रह जाते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि ऐसे मनुष्यों का जीवन निकृष्ट है। एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था में जो व्यक्ति लौकिक जीवन का आनंद लेना चाहते हैं उन्हें उसका पूरा अवसर मिलना चाहिए। आत्मसाक्षात्कार स्वानुभूति का विषय है। इसके लिए दबाव का सहारा नहीं लिया जा सकता है। इस प्रकार भारतीय परंपरा मोक्ष को परम लक्ष्य मानते हुए भी इसके लिए कठोरता की समर्थक नहीं है। जीवन सम्बन्धी भारतीय संकल्पना की विशेषता यह है कि जब तक उसे आत्मा का सत्य नहीं प्राप्त होता और वह उसमें निवास नहीं करने लग जाता तब उसे ऐसा लगता है कि वह कृतार्थ नहीं हुआ, उसे पूर्णता का सम्पर्क प्राप्त नहीं हुआ, उसे किसी मध्यवर्ती सनतुष्टि में बने रहना उचित नहीं जंचता। (श्री अरविन्द, 1994)

अतः भारतीय शास्त्रकारों की दृष्टि में मानव जीवन में भोग ही बड़ी उपलब्धि नहीं है, बल्कि उसका संयम, नियम, आदर्श एवं विचार ही सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है। तथापि मनुष्य के लिए भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों प्रकार के सुख का महत्व है और दोनों का समन्वित रूप ही मानव जीवन को सार्थकता प्रदान करता है। भारतीय जीवन दर्शन इन दोनों प्रवृत्तियों का संतुलित, सम्मिलित तथा समन्वित रूप है जिससे 'पुरुषार्थ–चतुष्टय' के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। इसमें लौकिक सुख के अंतर्गत अर्थ एवं काम है तथा आध्यात्मिक सुख के अंतर्गत धर्म एवं मोक्ष है। मनुष्य धर्म का अनुसरण करके अर्थ एवं काम की उपलब्धि करते हुए ईश्वरोन्मुख होकर मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। इस प्रकार पुरुषार्थ में लौकिक तथा पारलौकिक दोनों तत्व सम्मिलित है – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। यही पुरुषार्थ चतुष्टय है जिसकी उपलब्धि मनुष्य को करनी है।

भारतीय चिंतनधारा की यह दृढ़ मान्यता है कि मानव हृदय में पाप और पुण्य दोनों विद्यमान रहते हैं। दुर्बलता और अपूर्णता मानव मन पर आक्रमण करते रहते हैं किंतु मनुष्य पराक्रम और रचनात्मक प्रवृत्ति की भी योग्यता रखता है। (सर्वपल्ली डॉ0 राधाकृष्णन,1996) उसका यही गुण उसे पशुओं से श्रेष्ठ बनाता है। महाभारत के एक श्लोक में कहा गया है कि अमरता और मृत्यु दोनों मानव देह में निहित है। मोह का अनुसरण करके वह मरण को प्राप्त होता है तथा सत्य का अनुसरण करके वह अमृत को, अमरत्व को प्राप्त करता है। भारतीय चिंतन परंपरा का यह दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य का उद्देश्य निरंतर ऊपर उठना है और प्रत्येक मनुष्य ऐसा करने की क्षमता रखता है। मानव जीवन कोई निकृष्ट अथवा अयोग्य वस्तु नहीं है बल्कि यह सबसे महान रचना है। जैसा कि महाभारत18 के एक श्लोक में कहा गया है कि मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि। न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित।। (महाभारत शांतिपर्वान्तर्गत मोक्षधर्म पर्व : 299/20)

हमारी सनातन परंपरा में मानव जीवन के लिए जो अभीष्ट है उसे ज्ञान अथवा आध्यात्मिक अनुभव के तीन मूल तत्वों पर प्रतिष्ठित किया गया है। उसमें प्रथम है वेदों में वर्णित 'एकं सत' का विचार जिसे उपनिषदों में 'एकमेवाद्वितीयम' कहा गया है। इस संसार में जो कुछ भी है सब उसी की सत्ता है और इससे परे भी उसी का अस्तित्व है। यह परम सत्ता शाश्वत, अनंत एवं सनातन है, जिसके साथ तादात्म्य स्थापित करना ही मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। इसका द्वितीय मौलिक विचार यह है कि उस सनातन एवं अनंत के पास मनुष्य अनेक मार्गों से पहुंच सकता है। क्योंकि परमात्मा अनेक मार्गों से एवं नानाविधरूपों में इस जगत में स्वयं को व्यक्त करते हैं। वे सृष्टि करते हैं और ब्रह्मा कहलाते हैं, प्रतिपालन करते हैं और विष्णु कहलाते हैं तथा संहार करते हैं या अपने अंदर समेट लेते हैं और रूद्र या शिव कहलाते हैं। इसका तीसरा महत्वपूर्ण विचार यह है कि परम् सत् या ईश्वर को जहां विश्व चेतना में होकर समस्त अंतर एवं बाह्य प्रकृति को भेदकर प्राप्त किया जा सकता है वहां प्रत्येक व्यष्टि जीव अपने अंदर, अपनी सत्ता के आध्यात्मिक अंतःकरण में उन तत्व या भगवान से मिल सकता है। इस आध्यात्मिक विमर्श का एकमात्र सत्य यह है कि ईश्वर भूतमात्र के हृदय में विराजमान है और भूतमात्र ईश्वर के अंदर अवस्थित है। उन्हें प्राप्त करना ही मानव जीवन की महान उपलब्धि है। यही आत्मसाक्षात्कार है, यही आध्यात्मिक मोक्ष है और यही वह जीवन्त सत्य है जो मनुष्य को पूर्णता तथा मुक्ति प्रदान करती है।(त्रिपाठी, 2016)

यहां मोक्ष अथवा मुक्ति का अभिप्राय शाश्वत जीवन से पलायन नहीं है वरन् मानव व्यक्तित्व की पूर्णता का परिचायक है।यह केवल परमात्मा को पाने का मार्ग नहीं है वरन् मनुष्य एवं मनुष्यता को पाने का मार्ग भी है, यह सक्रिय सेवा का मार्ग है तथा निर्विशेष कल्याण भी है। निश्चय ही भारतीय ज्ञान परंपरा एवं जीवन दर्शन का यह संकल्प समकालीन समाज की परम आवश्यकता है। भारत सरकार के शिक्षा आयोग(1964–1966) के अध्यक्ष डॉ0 बी0 एस0 कोठारी ने अपनी रिपोर्ट के प्रथम अध्याय के अंतिम अनुच्छेदों में इसका समर्थन करते हुए कहा है कि आधुनिक युग में मानव के बाह्यजगतएवं अंतर्जगत के ज्ञान के बीचसामंजस्य का अभाव है। इस असंतुलन को दूर करना एक युग कार्य है। (सिंह,2000)

यह कार्य सनातन ज्ञान तथा जीवन दर्शन को आत्मसात् करके ही किया जा सकता है। अतः आज विश्व सभ्यता जिस भौतिकता में संलिप्त है वह भयंकर संक्रमण और आपातकाल की अवस्था है। इस विषम परिस्थिति पर विजय प्राप्त कर मानवता को सुरक्षित करने के लिए भारतीय ज्ञान परंपरा एवं जीवन दर्शन की परम आवश्यकता है।

REFERENCES

ऋग्वेद : 1/3/11

ऋग्वेद : 10/90/12

बृहदारण्यकोपनिषद, 1/2/3

महाभारत : शांति पर्व : 227/29–30

महाभारत : वन पर्व : 113/108

महाभारत, शांतिपर्वान्तर्गत मोक्ष धर्म पर्व 299/20

मनुस्मृति 1/90, 91, 92, 93

त्रिपाठी, सुनीता, (2016), *परम्परा का अभिनव संस्करणरू गांधी के आइने में*, फैजाबाद, भारतीय पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रिब्यूटर्स,, द्वितीय संस्करण।

सिंह, रामजी, (2000), *गांधी और मानवता का भविष्य*, नई दिल्ली, कॉमनवेल्थ पब्लिशर्स, प्रथम संस्करण।

विष्णु पुराण : 1/19/41

https : // Literature-awgp-org

https : // www-patrika-com-India

https : // www-ugtabharat-com

श्री अरविन्द, अनु0 जगन्नाथ वेदालंकार एवं चन्द्रदीय त्रिपाठी, (1994), *भारतीय संस्कृति के आधार*, श्री अरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पॉण्डिचेरी, तृतीय संस्करण।

श्रीमद्भगवद्गीता : 7/15

राधाकृष्णन, डॉ0 सर्वपल्ली अनु0 श्री रामानाथ सुमन, (1996), *भारतीय संस्कृति : कुछ विचार,* दिल्ली, राजपाल एण्ड सन्स,

वर्मा, वी0 पी0, (2002), *आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन*, आगरा, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, चतुर्थ संस्करण

.